अध्याय
11

काव्यशास्त्र

प्राचीन समय में मनुष्य आनन्द प्राप्त करने के लिए काव्यों का रसास्वादन करते थे, लेकिन काव्य सुव्यवस्थित ढंग से न लिखे होने के कारण काव्यों को पढ़ने में नीरसता आ जाती थी। धीरे-धीरे काव्यकारों ने काव्यों में अलंकार, रस और रीति का प्रयोग कर, उनको सुव्यवस्थित ढंग से लिखकर मानव जाति पर कल्याण किया है।

काव्यशास्त्र का परिचय

काव्यशास्त्र की सर्वप्रथम परिभाषा जिस अन्तर्दृष्टि से की गई उसका सूत्र है—'शब्दार्थों काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ का सहभाव ही काव्य है। इसे विस्तृत रूप से इस प्रकार भी कहा गया है— 'शब्दार्थों सहितौ काव्यम्' काव्य को केवल शब्दार्थ सहित कहने से ही उसका विशेष लक्षण प्रतिपादित नहीं हो पाता, क्रमशः कालान्तर में इस सूत्र के साथ कुछ अन्य विशेषण भी जोड़े गए। क्रमशः दोषरहित और अलंकार युक्त कहकर इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठान की (प्रसिद्धि) की गई, जिसके कारण काव्य के 'शब्द और अर्थ' कलंकित न हों। इस संसार में कोई भी वस्तु अथवा व्यक्ति दोषमुक्त नहीं होता, किन्तु गुणों के बाहुल्य के तेज के सामने जिस प्रकार अल्प दोष दिखाई नहीं देते, उसी प्रकार काव्य के शब्दों और अर्थों में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उनमें शोभावर्धक धर्मों अथवा काव्यालंकारों का प्रयोग किया जाए, जो काव्य के शब्दार्थमय शरीर में उसकी चेतना के रूप में निहित रहता है तथा जो काव्य की निर्दोषता, सगुणता तथा अलंकृति के समुचित संयोजन द्वारा अभिव्यक्त होकर काव्यरसिकों के चित्त को आहलादित करता हैं।

काव्यशास्त्र शब्द का अर्थ

काव्यशास्त्र का विषय काव्य-वाड्मय के नानाविध रूपों एवं विधाओं को सैद्धान्तिक विवेचन, व्यवस्था सम्बन्धी निर्देशन तथा मूल्यांकन से सम्बद्ध रहा है। आज काव्य शब्द का प्रयोग छन्दोबद्ध रचना के लिए सीमित हो गया है। अनेक विद्वानों द्वारा आदिकाल से ही काव्य को जानने पहचानने का प्रयास किया जाता रहा है और आज भी यह प्रयास उसी गति से जारी है। *काव्य के सम्बन्ध में निम्न कथन दृष्टव्य हैं*

''गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।''

''काव्येषु नाटकं रम्यम्।।''

ये दोनों उदाहरण उपर्युक्त कथन के प्रमाण रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। आज जिस साहित्य शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है।

''कुण्डत्वमायान्ति गुणाः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवजितेषु।
कुर्यादनार्देषु किमड्गनानां केशेषु कृष्णागरुधूपवास।।''

इस अध्याय में

उपर्युक्त पद्य में प्रयुक्त साहित्य शब्द बिल्हण के मतानुसार 'शास्त्रं' अर्थ का बोध कराता है। परवर्ती आचार्य साहित्य शब्द के दो रूप ग्रहण करते हैं—एक व्यापक अर्थ में और दूसरा रूढ़ अर्थ में।

काव्यशास्त्र का पुरास्तन नाम अलंकारशास्त्र है। सम्भवतः यह नाम उस युग की अभिद्या है, जब काव्य की रमणीयता का आधार माना जाता है। आचार्य वामन ने अलंकारों की तुलना आभूषणों से की है। राजशेखर काव्यशास्त्र के लिए 'साहित्यविद्या' नामक अभिधा का प्रयोग करते हैं। काव्यशास्त्र को प्राचीन समय में प्रायः 'अलंकारशास्त्र' कहा जाता है, किन्तु आज रस एवं ध्वनि के प्रति विशेष आग्रह के कारण इसका नाम काव्यशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र ही प्रचलित है।

काव्यशास्त्र के तत्त्व

काव्य की उपर्युक्त परिभाषा उसके स्वरूप लक्षणों पर आधारित है, जिसे किसी भी देश एवं काल की काव्यकृतियों पर घटित किया जा सकता है। इस परिभाषा के प्रमुख बिन्दु हैं—इन सबका प्रयोजन काव्य की वर्ण्य वस्तु का अभिव्यंजन करना है; जैसे

- ***काव्य का वर्ण्य विषय*** चराचर जगत् और जीवन की वे सभी वस्तुएँ तथा आत्मसंवेदनाएँ, जिसमें— रागतत्त्व, कल्पनातत्त्व और बुद्धितत्त्व का वांछित सामंजस्य समाविष्ट रहता है, काव्य की विषय-वस्तु बनती है।
- ***काव्य का अभिव्यक्ति पक्ष*** इसमें प्रमुख तत्त्व समाहित रहते हैं— शब्द, अर्थ, शब्दशक्ति, काव्यगुण, काव्यालंकार, काव्यरीति, वक्रोक्ति तथा निर्दोष काव्यरचना के सभी तत्व समाहित रहते हैं।
- ***काव्य का आत्मतत्त्व*** रस और ध्वनि ही काव्य का आत्मतत्त्व हैं, जो शब्दार्थमय शरीर में अन्तर्निहित रहता है। इन्हें देह और देही अर्थात् शरीर और आत्मा के दार्शनिक दृष्टिकोण से समझा जा सकता है। संस्कृत के रसध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य को 'रसात्मकं' वाक्यं काव्यं तथा ध्वनिरात्मा काव्यस्य कहकर रस तथा ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है। शब्द, अर्थ, शब्दशक्ति, अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि काव्य के अविच्छिन्न अंग अथवा आवश्यक तत्त्व हैं।

काव्यसौष्ठव

काव्य के जिन तत्त्वों का उल्लेख तीन वर्गों में किया गया है, उन्हें क्रमशः काव्य का भावपक्ष, कलापक्ष और आत्मपक्ष भी कहा जाता है। इनमें भावपक्ष जीवन की संवेदनाओं से जुड़ा हुआ तत्त्व है, जिसे रचनाकार काव्य की विषय-वस्तु बनाकर अहं और इदं की अभिव्यक्ति करता है। प्रबन्धकाव्यों में यह पक्ष इतिवृत्तात्मक बनकर घटनाचक्र को आगे बढ़ाता है। इसे हम रागतत्त्व भी कह सकते हैं, जिसकी परिणति रसदशा में होती है। तत्त्व भावमूलक है इसमें बुद्धितत्त्व का सम्मिश्रण भी वांछनीय है। वस्तुतः काव्य का भावी प्रसाद भावतत्त्व या रागात्मकता पर ही निर्भर है, जिसे हम काव्यसौष्ठव की नींव अथवा आधारशिला भी कह सकते हैं।

काव्य का भाषा शिल्प उसकी अभिव्यंजकता का ही पर्याय है, जिसे आचार्यों ने कलापक्ष अथवा भाषातत्त्व भी कहा है। अनेक विद्वानों ने कल्पना तत्त्व को भी काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व माना है, काव्यशास्त्र में कवि कल्पना के पंख पसार कर ही काव्यजगत में परिभ्रमण करता है। यद्यपि भारतीय कवि प्रतिभा के चमत्कार के रूप में अवश्यमेव निर्दिष्ट किया गया है। निष्कर्षतः ये सभी तत्त्व काव्य के सौष्ठव विधान एवं वर्चस्व विस्तार के ही उपादान हैं। जिससे काव्य का आत्मतत्त्व रस भी अपनी अस्मिता को अभिमण्डित करता है।

काव्यशास्त्र की उपयोगिता एवं महत्त्व

जहाँ तक काव्यशास्त्र की उपयोगिता के बारे में प्रश्न है, वह कवि तथा सामाजिक दोनों के लिए समान रूप से विचारणीय है। एक तरफ काव्यशास्त्र के ज्ञान से शून्य **सृष्ट** कलाकार की कृति उत्कृष्ट नहीं हो पाती, उसकी कवित्वशक्ति भी जड़ीभूत एवं कुण्ठित हो जाती है, काव्य के मर्म को समझने के लिए कवि की संस्कृत की यह सूक्ति ध्यान देने योग्य प्रतीत होती है

''कविः करोति काव्यम् रसं जानाति पण्डितः।
न हि बन्ध्या विजानाति गुर्वीम प्रसववेदनाम्।।''

प्रसववेदना की गहनता को नहीं समझ सकती, उसी प्रकार काव्य-रचना प्रक्रिया के तत्त्व से अनभिज्ञ व्यक्ति भी कवि के श्रम एवं काव्य के मर्म को नहीं समझ सकता। यही कारण है कि भवभूति ने साहित्यकार को 'समानधर्मा' कहा हैं।

काव्यशास्त्र, शास्त्र एवं कला

'काव्यशास्त्र' कला न होकर एक शास्त्र है। शास्त्र में अभिधेयार्थ प्रधान होता है, किन्तु कला में व्यंजनार्थ शास्त्र से श्रेय की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है। काव्य में श्रेय को प्रेय बनाकर उसका परोक्ष चित्रण किया जाता है। इस के अनुसार काव्य कला के लिए है, रचना किसी सिद्धि के लिए नहीं होती। नैतिकता उपदेश या मनोरंजन काव्य का उद्देश्य नही हैं। अपितु वह **स्वांतः सुखाय** है। इसके अन्तर्गत अनुभूति की मौलिकता एवं नवीनता पर विशेष बल रहा।

साहित्य और काव्य

''परस्परसापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेक क्रियान्वयित्वं साहित्यम्'' अर्थात् परस्पर सापेक्षित तुल्यकोटि की वस्तुओं के संग्रह को साहित्य कहते हैं। इस उदाहरण से स्पष्ट है, कि साहित्य किसी भाषाविशेष के विविध प्रकार के विविध विषयों पर लिखे गए ग्रन्थ-समूह को कहते हैं। साहित्य शब्द का प्रयोग अधिकांशतः काव्य के अर्थ में किया गया है। ''काव्यशास्त्र काव्य और साहित्य का दर्शन एवं विज्ञान है। यह काव्यकृतियों के विश्लेषण के आधार पर समय-समय पर उद्भावित सिद्धान्तों की ज्ञानराशि है। काव्यशास्त्र हेतु प्राचीन नाम साहित्यशास्त्र' तथा अलंकारशास्त्र' हैं। साहित्य के व्यापक रचनात्मक' तथा 'अलंकार शास्त्र' है। और साहित्य के व्यापक रचनात्मक वाङ्मय को एकत्रित कर इसे 'समीक्षा शास्त्र' भी कहा जाने लगा।

काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण

संस्कृत के आदि आचार्य भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में काव्य का लक्षण इस प्रकार बताया है

''मृदुललितपदाढ्य गूढ़शब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्ति मनृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्ग सन्धिसंधानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्।।''

स्पष्टतः भरत मुनि ने काव्य लक्षण न देकर शुभ काव्य का लक्षण दिया है। आचार्य भरत के अनुसार, शुभकाव्य में सात बातें होती हैं; जैसे— मृदुललित पदावली, गूढ़ शब्दार्थहीनता, सर्वसुगमता, युक्तिमता, नृत्य में उपयोग किए जाने की योग्यता, रस के अन्य अनेक स्रोतों को बढ़ाने के गुण और सन्धियुक्तता। नृत्य में उपयोग किए जाने की योग्यता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यहेतु

काव्यहेतु संस्कृत काव्यशास्त्र का विषय रहा है। इसका सामान्य अर्थ है—काव्य का कारण अर्थात् जिन कारणों से प्रेरित होकर कवि काव्य का निर्माण करता है, उन्हें काव्यहेतु अथवा काव्य-कारण कहते हैं। *काव्य हेतु के प्रश्न को लेकर संस्कृत काव्यशास्त्रियों के सामान्यतः तीन वर्ग हैं*

- ***भामह*** भामह ने 'काव्यालंकार' में काव्यहेतु के सम्बन्ध में कहा है
  "गुरुपदेशादध्येतुं शास्त्रं जड़धियोऽव्यलम्।
  काव्यं तु जायते धातु कस्यचित प्रतिभावतः।।"
  अर्थात् जड़ बुद्धि लोग भी गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन करने में समर्थ हो सकते हैं। पर काव्य तो कभी-कभी किसी प्रतिभाशाली कवि द्वारा ही रचा जा सकता है।
- ***दण्डी*** आचार्य दण्डी ने अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में आचार्य मम्मट के विवेचन केवल प्रतिभा काव्यहेतु है का खण्डन करते हुए लिखा है कि प्रतिभा ही मूल हेतु नहीं है, बल्कि व्युत्पत्ति एवं अभ्यास भी आवश्यक है।
- ***राजशेखर*** काव्यहेतु के विषय में विवेचन करते हुए राजशेखर कवियों को दो भागों में विभक्त करते हैं—सहज बुद्धि वाले कवि एवं आहार्य बुद्धि वाले कवि पर शास्त्रज्ञान के लिए उन्हें भी काव्यमर्मज्ञों की उपासना करनी पड़ती है। राजशेखर शक्ति को काव्य का हेतु स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि 'शक्ति' प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति की मित्र हैं। प्रतिभासित होना ही प्रतिभा है।

काव्य के तीन भेद

व्यंग्यार्थ के दृष्टिकोण से आनन्दवर्धन ने काव्य के तीन भेद किए हैं

- ***उत्तम काव्य*** इसे ध्वनि काव्य भी कहते हैं, क्योंकि इसमें वाच्यार्थ की उपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक उत्कृष्ट होता है।
- ***मध्यम काव्य*** इसमें वाच्यार्थ के समान ही व्यंग्यार्थ गौण किन्तु उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होता है। ऐसा काव्य गौण काव्य समझा जाता है।
- ***अधम काव्य*** इसमें किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ नहीं रहता, मात्र अलंकारों का कौतुक रहता है। अतः आनन्दवर्धन ऐसे काव्य को काव्य नहीं मानते वे ऐसे काव्य को काव्य की नकल अथवा काव्यानुभूति बताते हैं।

रस सम्प्रदाय

प्राचीन काल से ही रस परम्परा ने काव्य शास्त्रों को परिपूर्णता प्रदान की है। रस-परम्परा (सम्प्रदाय) *को अधोलिखित वर्णन के आधार पर समझ सकते हैं*

संस्कृत साहित्यशास्त्र में रस के सिद्धान्त

सर्वप्रथम रस का वर्णन हमें भरत मुनि विरचित नाट्यशास्त्र के छठे-सातवें अध्याय में मिलता है। सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र में विभिन्न स्थलों पर रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, गुण, अलंकार तथा नाट्यधर्मों आदि के प्रसंग में रस का महत्त्व स्थापित किया गया है। राजशेखर ने नन्दिकेश्वर को तथा केशव मिश्र ने शौद्धोदनि को रस का प्रणेता माना है। भरत ने ब्रह्मा को विशेष महत्त्व दिया है और शारदातनय ने विष्णु को। नन्दिकेशर ने ब्रह्मा को नाट्यवेद की शिक्षा दी, रचना के अभाव में भरत को ही प्रथम प्रणेता स्वीकार किया जाता है। रस को अलंकारवादी, रीतिवादी, रसवादी तथा ध्वनिवादी सभी आचार्यों ने महत्त्व दिया है।

रस विषयक विभिन्न मत

इस विषयक के विषय में विभिन्न विद्वानों के मत निम्नलिखित हैं

- ***दण्डी*** इन्होने गुणों का रस से सम्बन्ध स्थापित करते हुए रस के **महत्त्व** को स्वीकार किया। उनका प्रस्तुत कथन—"रसयुक्त मधुर वचन पुष्परस के समान मादक होते हैं। अतः काव्य में रस एवं भाव निरन्तर आवश्यक है।"
- ***वामन*** रस को गुणों के उत्कर्ष के हेतु वामन ने इसको मूल रूप माना है।
- ***उद्भट*** प्रथम बार उद्भट ने रसालंकारों में 'समाहित' को स्वीकार किया तथा नाटक में शान्त रस की प्रतिष्ठापना की।
- ***रुद्रट*** रसहीन समस्त काव्य को रुद्रट ने शास्त्र की श्रेणी में रखने का आग्रह किया तथा शान्त और पेयस् रसों को भी स्वीकार किया।
- ***आनन्दवर्द्धन*** इन्होंने ध्वनि को काव्यात्मा मानकर भी रस को प्रेरक तथा सार रूप माना।
- ***राजशेखर*** इन्होंने काव्यपुरुष के रूपक के प्रसंग में रस को काव्यात्म रूप माना है।
- ***धनंजय*** इन्होंने भी व्यंजना का विरोध करते हुए ध्वनि के स्थान पर रस को महत्ता प्रदान की है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि रसाभिव्यक्ति के चार साधन हैं *अथवा रस के चार अंग हैं*
  - ***विभाव*** 'नाट्यशास्त्र' में विभाव के सम्बन्ध में भरत मुनि ने लिखा है
    "विभाव्यन्तेऽनेन वागड्गसत्वाभिनया इति विभावाः।
    यथा विभाविंत विज्ञातमित्यर्थान्तरम्।।"
    तात्पर्य यह है कि वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय के सहारे चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से विभाजन अर्थात् ज्ञापन वाले हेतु कारण अथवा निमित्त को 'विभाव' कहते हैं।
  - ***व्यभिचारी भाव*** इन भावों को संचारी भाव भी कहते हैं। व्यभिचारी-वि + अभि + चारी। 'वि' का अर्थ है 'विशेष रूप से', अभि का अर्थ 'ओर' अथवा प्रति का अर्थ है 'चलने वाला'। व्यभिचारी का अर्थ हुआ—वे भाव जो स्थायी भाव की ओर चलते हैं, गतिशील होते हैं या सक्रिय रहते हैं। जिससे स्थायी भाव रस का रूप धारण कर ले। भरत मुनि ने तैंतीस संचारी भावों का उल्लेख किया है। यद्यपि आधुनिक विद्वानों के अनुसार इस संख्या में न्यूनाधिक्य हो सकता है। *तैंतीस संचारी भाव निम्नलिखित हैं*
    निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, दैन्य, आलस्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, आवेग, हर्ष, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, वितर्क।
  - ***अनुभाव*** अनु का अर्थ है पश्चात् भाव का अर्थ है उत्पन्न होने वाला। इस प्रकार अनुभाव का अर्थ स्थायी भाव के पश्चात् उत्पन्न होने वाले अथवा रति आदि स्थायी भावों का अनुभव कराने वाले भाव हैं।
    स्पष्टतः आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ स्थायी भावों के उद्बुद्ध हो जाने के उपरान्त होती है तथा ये चेष्टाएँ उद्बुद्ध स्थायी भावों का भी अनुभव कराती हैं, अतः इन्हें 'अनुभाव' संज्ञा प्रदान की गई है। इस प्रकार जो भावों के कार्य हैं अथवा जिनके द्वारा रत्यादि भावों का अनुभव होता है, वे अनुभाव कहलाते हैं। लोक में जिसे कार्य कहते हैं।
  - ***स्थायी भाव*** सहृदय के अन्तःकरण में जो मनोविकार वासना रूप में सदा विद्यमान रहते हैं तथा जिन्हें अन्य कोई भी विरुद्ध भाव अक्षिम नहीं कर सकता, उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। स्थायी भाव ही आस्वाद के मूलभूत कारण होते हैं। 'दशरूपक' में *धनंजय के वचन हैं*
    "विरुद्धैरविरुद्धैर्वा, भावैर्विच्छद्यते न यः।
    आत्मभावं नयत्यन्यान्, सः स्थायी लवणाकरः।।"

भक्ति रस

आचार्य दण्डी ने भक्ति रस का संकेत किया है, जो प्राय: प्रेयोलंकार पर आधारित जान पड़ता है। 'काव्यादर्श' में दण्डी का वचन है

'भक्तिमात्रसमाराध्य: सुप्रीतश्च ततो हरि:।'

दण्डी के अनुसार भक्ति और प्रीति परस्पर पर्याय हैं। अत: देवता-विषयक रति को शृंगार से मित्र समझना चाहिए। रुद्रट ने सर्वप्रथम प्रेयान् नाम का नवम रस माना।

- मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को ब्रह्मानन्दसहोदर समझा, किन्तु रूप गोस्वामी ने समाधिजन्य ब्रह्मानन्द को परमाणु के समान भी नहीं माना, वे तो भक्ति को ज्ञान और कर्म से अधिक अच्छा मानते हैं। भक्ति सर्वश्रेष्ठ रस है, भक्ति रस में नितान्त सुख है। रूप गोस्वामी के मतानुसार भक्ति अनुक्रमित होती है। अत: भक्ति रस को शृंगार रस के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। भक्ति रस के पाँच भेद सम्भव हैं; जैसे— शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। इसमें शान्ता सर्वश्रेष्ठ है और कान्ता विषयक भक्ति शृंगार रस का नाम ग्रहण कर सकती है। भक्ति रस का स्थायी भाव देवादि-विषयक रति है।
- भक्ति रस को विद्वानों ने सर्वसम्मति से मान्यता प्रदान नहीं की। अभिनवगुप्त ने धृति, मति, स्मृति और उत्साह आदि में भक्ति का अन्तर्भाव करके भक्ति रस को शान्त रस के अन्तर्गत मान लिया।
- धनञ्जय ने भी भक्ति को मात्र भाव माना है और उसका समावेश हर्ष, उत्साह, आदि में ही कर लिया। मम्मट उसे देवता-विषयक रहित ही मानते हैं। विश्वनाथ ने भक्ति को स्थान नहीं दिया। पण्डित जगन्नाथ ने भक्ति का समर्थन किया। उसे रस नहीं माना, क्योंकि उन्हें आशंका थी।
- इस प्रकार विद्वानों ने भक्ति रस पर अनेक आपेक्ष किए हैं। *कतिपय अन्य आपेक्ष निम्न प्रकार हैं*
  - भक्ति रस परम्परानुमोदित नहीं है।
  - भक्ति को भाव मान लेना उचित है।
  - भक्ति उत्कृष्ट नहीं, क्योंकि यह निर्जीव मूर्ति के प्रति निवेदित होती है।
  - यह मूल भाव नहीं है।
  - यह व्यापक भी नहीं है।

इनमें से सर्वप्रथम आपेक्ष नितान्त निराधार है, क्योंकि साहित्य और समाज निरन्तर परिवर्तनशील है और परिवर्तन के साथ ही नवीन मतों की प्रतिष्ठा भी हो सकती है।

वात्सल्य रस

- आचार्य विश्वनाथ ने वत्सल या वात्सल्य को दशम रस माना है। इनमें पूर्व इसका उल्लेख रुद्रट कर रहे थे और उद्भट्ट ने इसे अलंकार माना तथा इसको भाव की श्रेणी में स्थान दिया। भामह और दण्डी ने इसे प्रेम का उत्कृष्ट अर्थात् प्रियतर रूप माना है, जबकि दण्डी ने इसे शृंगार के तुल्य बताया है। यदि शृंगार का स्थायी भाव रति है, तो वत्सल का स्थायी भाव प्रीति है। अभिनवगुप्त ने वत्सलता को लेकर भाव माना है और भाव में उसका अन्तर्भाव कर लिया है। मम्मट ने भी अभिनवगुप्त का अनुसरण किया है, परन्तु भोज ने वत्सल को रस माना और विश्वनाथ ने उसकी विशेष प्रतिष्ठापना की।
- विश्वनाथ वत्सल को स्थायी भाव मानते हैं। विश्वनाथ के मतानुसार वात्सल्य का देवता जगदम्बा है और इसका वर्ण पद्मगर्भ छवि के समान है।

विश्वनाथ वत्सल के दो भेद मानते हैं

- संयोग वात्सल्य
- वियोग वात्सल्य

- वियोग वात्सल्य के उन्होंने पुन: चार भेद किए हैं, *जो इस प्रकार हैं*
  गच्छत्प्रवास, प्रवासस्थित, अप्रवासगत, करुण वात्सल्य।
- रूप गोस्वामी ने वत्सल को पृथक् रस घोषित किया है, क्योंकि इसका रसास्वाद पानक रस के समान स्पष्ट झलकता है, हृदय में प्रवेश करता है, बेद्य-विषयों को ढक लेता, ब्रह्मानन्द के समान अनुभूत होता तथा अलौकिक चमत्कृति से युक्त रहता है। अनेक विद्वान् इसे पृथक् रस इस कारण मानते हैं कि विविध ऐषणाओं में पुत्रैषणा का स्थान है। अत: 'वात्सल्य' को एक स्वतन्त्र रस माना जा सकता है।

अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार सम्प्रदाय से तात्पर्य उन काव्यशास्त्रियों की परम्परा से है, जिन्होंने रस और ध्वनि सिद्धान्तों के प्रतिष्ठित हो जाने से पूर्व अथवा बाद में 'अलंकार' को ही काव्य की उत्कृष्टता का प्रमुख तथा मूल साधन माना। अलंकार सिद्धान्त के संस्कारक आचार्य का गौरव आज भामह को दिया जाता है तथा इस मत के पोषक आचार्य हैं—भामह के टीकाकार आचार्य उद्भट, दण्डी, रुद्रट, जयदेव, दीक्षित आदि। रीतिकालीन काव्य की सामान्य शैली अलंकृत तथा वैचित्र्यपूर्ण होने पर भी अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत आने वाले कवि आचार्य न्यून हैं।

अलंकार शब्द की उत्पत्ति

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अलम् + कृ + घञ्। इसका अर्थ है आभूषण। वैयाकरण इसको समझाते हुए कहते हैं—'अलंकारोतीति अलंकार' अर्थात् वह तत्त्व, जो सुशोभित करता है, अलंकार है। इसी को कर्मवाच्य में इस प्रकार कहा गया है—'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकार:' अर्थात् वह तत्त्व, जिसके द्वारा शोभा होती है, अलंकार कहलाता है। विद्वानों ने अलंकार शब्द की व्याख्या एक और प्रकार से की है, वह है—जिसके कारण दृष्ट या पाठक 'अलं अलं' अर्थात् बस-बस करने लगता है। मन की यह अवस्था हर्षोल्लास के कारण होती है। भामह के अनुसार, 'शब्द और अर्थ' की वक्रोक्ति ही वाणी का अलंकार है।

डॉ. नगेन्द्र ने अलंकार को दो प्रतिनिधि परिभाषाओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है। जैसे

- प्रथम परिभाषा दण्डी की है। वे कहते हैं—"काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते"। इसका आशय यह है कि अलंकार वे धर्म है, जो काव्य में शोभा उत्पन्न करते हैं।
- दूसरी परिभाषा विश्वनाथ की है। विश्वनाथ अपने ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में कहते हैं, कि शोभा का अतिशय करने वाले रस, भाव आदि के उप रूपक जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, वे केयूर आदि की भाँति काव्य के अलंकार कहलाते हैं।

दण्डी की परिभाषा से प्रतीत होता है, कि अलंकार सहज गुण है और काव्य का सौन्दर्य उन्हीं पर निर्भर है, किन्तु विश्वनाथ की परिभाषा में अलंकार की महिमा कम हो जाती है, उनके अनुसार काव्य के अस्थिर धर्म है। वे शोभा की सृष्टि नहीं करते, केवल वृद्धि करते हैं और रस के सहायक हैं।

अलंकार के विषय में विद्वानों के मत

अलंकार के विषय में विभिन्न विद्वानों के अनेक मत निम्नलिखित हैं

- **भामह** 'काव्यालंकार' के रचयिता, जिनका कार्य-काल छठी शताब्दी माना जाता है। अलंकारों को सर्वप्रथम काव्य की आत्मा घोषित करने का श्रेय पाते हैं।
- भामह ने "वक्राभिधेयशब्दोक्ति रिष्टा वाचमलंकृतिः" अर्थात् शब्द एवं अर्थ का वैचित्र्य ही अलंकार है, की घोषणा की थी। स्पष्टतः भामह के अनुसार अलंकार ही काव्य का अनिवार्य प्राण तत्त्व है। भामह का मत है, कि जिस प्रकार स्वभावतः सुन्दर होने पर भी वनिता के मुख पर आभूषण के बिना आभा नहीं आती।
- **दण्डी** इन्होंने अपनी मान्यता इस प्रकार स्थापित की है "काव्यशोभा करान् धर्मालंकारान् प्रचक्षते" तात्पर्य यह है कि अलंकार काव्य को सौन्दर्य प्रदान करने वाले धर्म हैं। साथ ही दण्डी अलंकार को काव्य का शाश्वत धर्म भी मानते हैं। वे अलंकारों की संख्या 38 न मानकर 35 ही मानते हैं। 'अतिशय' को अलंकार की आत्मा माना और अलंकार के साथ गुण और रीति की भी प्रतिष्ठा की थी।
- **वामन** इन्होंने "काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलंकारः" अर्थात् अलंकार द्वारा ही काव्य ग्राह्य होता है तथा सौन्दर्य ही अलंकार है, कह कर अलंकारों का परिचय दिया है।
- **उद्भट** इन्होंने 'भामहविवरण' में अलंकार के सिद्धान्तों की अत्यन्त सूक्ष्म और समृद्ध व्याख्या प्रस्तुत की है, उन्होंने अलंकारों की संख्या 41 मानी है।
- **रुद्रट** अलंकार सम्प्रदाय के सर्वप्रमुख आचार्य रुद्रट ने अलंकारों की संख्या 50 से ऊपर दी है। 1. वास्तव 2. औपत्य 3. अतिशय एवं 4. श्लेष। भामह ने रस और भाव को अलंकार के अन्तर्गत माना था।
- **कुन्तक** इनके अनुसार, विदग्धों के कहने का ढंग ही वक्रोक्ति है और वह अलंकार ही है।
- **अभिनवगुप्त** इन्होंने अलंकारों को ब्राह्मंग मानते हुए निभ्रान्ति शब्दों में उसकी उपयोगिता रसापेक्ष स्वीकार की। उनके अनुसार रसाभावरहित काव्य में अलंकारों की जाते शव को आभूषणों से सजाने जैसी है।
- **महिमभट्ट** इन्होंने रस को काव्य की आत्मा मानते हुए गुणों और अलंकार की महत्ता रस के चारुत्वविधान के अन्तर्गत स्वीकार की

  "चारुत्वहेतुत्वेऽपि गुणानामलंकारणम्।"
- **भोजदेव** वक्रोक्ति को काव्य मानते हुए भोजदेव ने रसोक्ति को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया।
- **क्षेमेन्द्र** "इन्होंने अलंकारों को काव्यात्मा का प्रसाधक माना। उनका कथन है—उपमोत्प्रेक्षादयो ये प्रचुरालंकारास्ते कटककुण्डलकेयूरहारादिवस लंकाराः एवं बाह्यशोभा हेतुत्वात्।"
- **मम्मट** आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में स्पष्ट शब्दों में अलंकार को हारादि के समान काव्य की ब्रह्म शोभा का वर्धक माना।
- **जयदेव** इन्होंने अलंकृत रचना को काव्य मानना अग्नि को अनुष्ण मानने के समान अस्वाभाविक तथा अव्यावहारिक बताया।
- **विश्वनाथ** इन्होंने अलंकारों को रसादि के उपकारक, किन्तु शब्दार्थ के अनित्य धर्म बताया। विश्वनाथ के अनुसार, काव्य में अलंकारों का वही स्थान समझना चाहिए।
- **मम्मट और विश्वनाथ** इन दोनों ने अलंकार सम्प्रदाय की जड़ें हिला दीं, जिन्हें जयदेव, विद्याधर, अप्पय, दीक्षित आदि विद्वान् भी सुदृढ़ न कर सके।

अलंकारों का क्रमिक विकास

अलंकारों की संख्याओं में निरन्तर वृद्धि हो रही हैं, वहाँ समाहार की प्रवृत्ति भी काम करती रही। दण्डी ने जहाँ आवृत्ति नामक नवीन अलंकार माना, भामह द्वारा स्वीकृत अनन्वय तथा सन्देह का उपमा में अन्तर्भाव कर दिया गया।

दण्डी के अनुसार, काव्य में रमणीयता उत्पन्न करके उसे संवेद्य बनाने वाले साधनों का नाम अलंकार है और उनकी संख्या अनन्त है इसकी रचना हो रही है

'ते चाद्यापि विकलव्यन्ते कस्तान् कात्स्र्येन वक्ष्यति'—दण्डी का यह कथन अक्षरशः सत्य है। वस्तुतः सौन्दर्यप्रेमी है और सौन्दर्य नवीनताप्रेमी है। वह नित्य परिवर्तनशील है। संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारों के विकास *की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं*

- ***प्रथमावस्था*** 'भामाह से वामन तक'—इस समय तक अलंकारों की संख्या 52 थी।
- ***द्वितीयावस्था*** 'रुद्रट से रुय्यक तक'— इस समय तक अलंकारों की संख्या 103 थी।
- ***तृतीयावस्था*** 'जयदेव से जगन्नाथ तक'— इस समय तक अलंकारों की संख्या 191 हो गई थी।

अलंकारों का वर्गीकरण

सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने अलंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। उसके पश्चात् रुय्यक अलंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया। श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने *इस वर्गीकरण का निर्देश निम्नानुसार किया है*

- ***सादृश्यगत*** इन अलंकारों का मूल सादृश्य या उपमा है। इनमें उपमेय और उपमान (गुणधर्म) आदि में किसी न किसी प्रकार साम्य दिखाकर मूल भाव को अभिवृद्ध एवं प्रभावशाली बनाया जाता है।
- ***विरोधमूलक*** इसका मूल तत्त्व विरोध है। इसमें वस्तु और अलंकार के गुण धर्म आदि में वैषम्य दिखाया जाता है। इस वर्ग में विरोध, विभावना, विशेषोक्ति आदि बारह अलंकार आते हैं।
- ***शृंखलाबद्ध*** इसमें एक पद या वाक्य का परस्पर सम्बन्ध शृंखला की भाँति रहता है।
- ***तर्कन्यायमूलक*** इसके अन्तर्गत तर्क, अनुमानादि के सहारे उक्ति को प्रभावशाली बनाया जाता है।
- ***काव्यन्यायमूलक*** इसमें तर्कपूर्ण सामान्य वाक्य या उक्ति के द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। इसमें पर्याय, अर्थापति, विकल्प, परिवृति, समाधि आदि अलंकार इस वर्ग में आते हैं।
- ***लोकन्यायमूलक*** इस वर्ग में लोकव्यवहार के तत्त्वों में वैचित्रय या सहारा देकर उक्ति को प्रभावशाली बनाया जाता है। प्रतीप, मीलित, तदगुण, अतद्गुण आदि इस प्रकार के अलंकार हैं।
- ***गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक*** इसमें सूक्ष्म, व्याजोक्ति एवं वक्रोक्ति का सहारा लेकर मूल में गूढ़ार्थ का प्रतिपादन कर उक्ति को प्रभावशाली बनाया जाता है।

अलंकारों के भेद

अलंकारों के अध्ययन की सुविधा हेतु तीन वर्ग किए जा सकते हैं

- ***शब्दालंकार*** शब्दालंकारों का सौन्दर्य शब्द के ध्वन्यात्मक अनुरणन, झंकृति और शब्दगत अर्थ पर आश्रित रहता है। शब्दालंकारों में प्रमुख है—अनुप्रास, यमक, श्लेष और वक्रोक्ति। अनुप्रास में किसी वर्ण या अनेक वर्णों की आवृत्ति होती है।

  आवृत्ति ही सौन्दर्य-विधायक है; जैसे

  ''करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।।''

  अनुप्रास से बहुत कुछ समानता रखता हुआ यमक अलंकार है। इसमें कहीं-कहीं चित्रार्थक या निरर्थक पदों की आवृत्ति भी होती है;

  यथा—'श्लेष' अलंकार में एक ही शब्द को दो या अधिक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है; जैसे—जब श्रोता वक्ता के द्वारा कहे गए शब्द से वक्ता के आश्रम से ध्वनित अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ भी ग्रहण करता है वहाँ यह शिलष्ट भी होती है और काकु भी।
- ***अर्थालंकार*** अर्थगत अथवा अर्थालंकार का सौन्दर्य वाक्य के अर्थ एवं शब्द के सन्दर्भगत अर्थ से सम्बन्धित होता है। इस श्रेणी के प्रमुख अलंकार हैं—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, व्याजस्तुति, विरोधाभास आदि।
  - ***उपमा*** इस अलंकार में वर्ण्य विषय-वस्तु का सादृश्य किसी अन्य वस्तु के माध्यम से अभिव्यक्त होता हैं।
  - ***रूपक*** इसमें उपमेय को उपमान के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। उपमेय का उपमान पर पूर्णारोप ही रूपक हैं।
- ***उभयालंकार*** जहाँ शब्दगत एवं अर्थगत दोनों प्रकार के चमत्कार प्रधानता प्राप्त कर लेते हैं। वे उभयालंकार कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि इस कोटि के अलंकारों में शब्दगत और अर्थगत सौन्दर्य का एकत्र समन्वय होता है। उभयालंकार के दो भेद हैं—संसृष्टि और संकर।

निष्कर्ष सहज-स्वाभाविक, भावप्रेरित अलंकार से काव्य की शोभा बढ़ती है। भाव उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं और पाठक के सुषुप्त भावों को अपनी सम्प्रेषण क्षमता के अनुरूप जाग्रत करते हैं। इनसे श्रोता का मन आन्दोलित तथा आकर्षित होता है। आज सामान्य धारणा यह बनती जा रही है, कि अलंकारों का युग बीत गया है। यह विचार करने से ज्ञात होता है। अलंकार का स्वरूप बदल गया है। साज-सज्जा की सामग्री में अवश्य परिवर्तन हो गया है। इसी परिवर्तन के आधार पर अलंकारों में भी स्वरूपगत परिवर्तन का होना सम्भव है। इनका मूल्यांकन रुचि विशेष है। वर्तमान में अलंकार शिक्षण की आवश्यकता है। इनका अध्ययन वस्तुत: आवश्यक है।

अलंकार का मनोवैज्ञानिक आधार

अलंकार की मूल प्रेरणा क्या है, इस पर विचार करते हुए समालोचकों ने कहा है, कि वाणी के अलंकृत होने का कारण इनमें भावोद्दीपन का निहित होना है, भावोद्दीपन का कारण है मन। मन का सहज माध्यम है ओज तथा ओज का महत्त्व माध्यम है आवेग, आवेग का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। अत: अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति को अलंकारसर्वस्य अथवा उनकी मूल प्रेरणा माना जा सकता है।

डॉ. नगेन्द्र अलंकारों के छ: मनोवैज्ञानिक आधार स्वीकार करते हैं

- स्पष्टता
- आश्चर्य
- जिज्ञासा
- विस्तार
- अन्विति
- कौतूहल

प्राचीन आचार्यों के मत में इनके मूर्त रूप क्रमश: निम्न हैं

- साधर्म्य
- वैषम्य
- वक्रता
- अतिशय
- औचित्य
- चमत्कार

इन छ: में से मात्र तीन ऐसे आधार हैं, जो वास्तव में अपने व्यापक रूप में समस्त अलंकारों के मूल में निहित रहते हैं, वे हैं

- अतिशय अर्थात् बढ़ा-चढ़ाकर कहना।
- वक्रता अर्थात् घूमा-फिरा कर कहना।
- चमत्कार अर्थात् बुद्धिकौतुक।

अलंकार के रूपविधान को दृष्टि में रखकर विचार करने पर सहज रूप से पाठक के समक्ष यह विचार उपस्थित होता है, कि आत्मगत भावावेश को प्रभावीव्यजक रूप से व्यक्त करना ही इनका लक्ष्य है।

इस दृष्टि से अलंकारों के अस्तित्त्व का कारण मनोविज्ञान ही सिद्ध होता है। काव्य रचना में विषय को उक्तिवैचित्य के माध्यम से प्रस्तुत करने का एकमात्र साधन अलंकार हैं।

रीति सम्प्रदाय

रीति को सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित करने का गौरव आचार्य वामन को प्राप्त है। वामन से पहले अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य काव्य में अलंकार की महत्ता का विवेचन प्रस्तुत कर चुके थे। अलंकार तत्त्व के विवेचन से काव्य के प्राण तत्त्व की स्पष्ट तथा स्वच्छ व्याख्या नहीं हो पाई थी। अलंकार सिद्धान्त के पश्चात् ही रीति सिद्धान्त की स्थापना हुई। रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए आचार्य वामन ने स्पष्ट शब्दों में *अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है*

''रीतिरात्मा काव्यस्य''

स्पष्ट है कि रीति को काव्य की आत्मा के रूप में सर्वप्रथम वामन ने स्वीकार किया। वामन सर्वप्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में आत्मा का प्रयोग करते हुए रीति को काव्य की आत्मा कहा।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में 'रीति' से मेल खाते हुए शब्द 'प्रवृत्ति' का प्रयोग हुआ था। नाट्यशास्त्र में 'प्रवृत्ति' के निरूपण को देख कर स्थानीय विशेषताओं की सूचना का निर्देश करते हैं। उन्होंने आवन्ती, दाक्षिणात्य, औड़माधगी और पांचाली प्रवृत्तियों की विवेचना प्रस्तुत की है। रीति सिद्धान्त के आधारभूत तत्त्व गुण, दोष और लक्षण हैं। इसका विशद् विवेचन नाट्यशास्त्र में हो चुका था।

रीति के विषय में विद्वानों के मत

रीति के विषय में विभिन्न विद्वानों के अनेक मत रहे हैं

भामह

अलंकार सम्प्रदाय के अधिष्ठाता आचार्य भामह ने छठी शताब्दी में लिखे हुए अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में वैदर्भ एवं गौड़ नामक दो मार्गों का उल्लेख किया गया था। वह मार्ग 'रीति' का पर्यायवाची माना जा सकता है। भामह ने इन दोनों मार्गों को उस स्थिति के अयोग्य बताया है, जबकि वे अलंकारविहीन हो। इस सम्बन्ध में उदाहरण

"अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्य न्याय्यमनाकुलम्।
गोडीयमपि श्लाघीयं, वैदर्भमपि नान्यथा।"

दण्डी

भामह के उपरान्त आचार्य दण्डी ने भी अपने 'काव्यादर्श' में मार्ग शब्द पर व्यापकता से विचार किया। उन्होंने सूक्ष्म भेदों की ओर संकेत किया है

"इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महान्।
तथापि न तदाख्यातं सरस्वव्यापि शक्यते।।"

तात्पर्य यह है कि ईख, गुड़, दूध आदि मधुर होते हैं और उनकी मधुरता में अन्तर भी होता है। सरस्वती भी इस अन्तर को स्पष्ट नहीं कर सकती।

आचार्य दण्डी ने भामह की अपेक्षा वैदर्भी और गौड़ी का अधिक सांगोपांग विवेचन किया है। दण्डी ने वैदर्भी रीति को उत्तम और गौड़ी को निकृष्ट माना है। गौड़ी में इन दस गुणों के विपर्यय की अवस्थिति स्वीकार की हैं।

वामन

वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्र' में रीति को इतना अधिक महत्त्व दिया, उसे स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा ही घोषित कर दिया

"रीतिरात्मा काव्यरस।"

रीति के लक्षण पर प्रकाश डालते हुए वामन लिखते हैं

"विशिष्टपदरचना रीति, विशेषो गुणात्मा पदम्।"

विशिष्ट पदरचना को उन्होंने रीति स्वीकार किया और विशेष पद रचना क्या है इसके विषय में गुणों को ही विशेष बताया है। इस प्रकार काव्य का आधार रीति और रीति का आधार वामन गुणों को मानते हैं।

अर्थात् रीति विशिष्ट पद रचना है और विशिष्टता गुणों के ग्रहण और दोषों के त्याग से आती है। काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व गुण माना गया, किन्तु वामन दो भेद करते हैं-शब्दगुण और अर्थगुण। इस प्रकार से वामन ने गुणों की संख्या बीस बताई है। उसके मतानुसार वैदर्भी में अर्थगुण और गौड़ी ये शब्दगुण की प्रधानता रहती है। वामन ने तीन प्रकार रीति स्वीकार की वैदर्भी, गौड़ी रीतियों की चर्चा इससे पहले भी हो गई। उन्होंने तीसरी रीति पांचाली को भी स्वीकृति दी। दण्डी ने गौड़ी को ओज और कान्ति गुणों से युक्त माना है

"ओजः कान्तिमती गौडीया।"

पांचाली में वामन माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों की विद्यमानता आवश्यक मानते हैं।

"माधुर्यसौकुमार्योपत्रा पांचाली।"

रुद्रट

ये प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने रीति का वर्गीकरण कर नवीन पृष्ठभूमि पर किया। उन्होंने तीन प्रकार के समास पद माने हैं—लघु समास, मध्यम समास और दीर्घ समास। इन्हीं के आधार पर एक चौथी रीति 'लाटी' की भी उन्होंने कल्पना की। उनका मत था, कि वैदर्भी एवं पांचाली माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों से युक्त होने के कारण शृंगार, करुण, अद्‌भुत आदि रसों की रचना के लिए अभीष्ट रीति हैं।

"वैदर्भीपांचाल्यौ, प्रेयसी करुण भयनकाद्‌भुतयोः।
लाटीयागौडीये, रौद्रे कुर्याद् यथोचित्यम्।।"

राजशेखर

इन्होंने 'रीतिनिर्णय' नामक अपने ग्रन्थ में रीति, प्रवृत्ति और वृत्ति की एक मधुर कल्पना की है। इन तीनों का उद्‌भव साहित्य-वधू की वाणी, वेशभूषा और विलास कल्पित करते हैं।

"वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः,
वचन विन्यासः क्रमो रीतिः।"

यहाँ उन्होंने वेशभूषा से प्रवृत्ति, विलास से वृत्ति और वाणी से रीति का उद्‌भव माना हैं।

कुन्तक

आचार्य कुन्तक ने रीति विकास के क्रम में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किया। कुन्तक से पहले के विवेचकों ने रीतियों का आधार भौगोलिक स्वीकार किया था, इन्होंने रीति के विभिन्न भेदों का नामकरण भी नये ढंग से किया—सुकुमार मार्ग (वैदर्भी), विचित्र मार्ग (गौड़ी) और मध्यम मार्ग (पांचाली) कुन्तक का यह प्रयास आचार्यों ने स्वीकार किया है।

भोजराज

इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी है। भोजराज ने पूर्व प्रचलित चार रीतियों के अतिरिक्त दो और रीतियों को नियोजित किया, जिन्हें आवन्तिका और मागधी कहा। इनके लक्षण

"अन्तराले तु पांचाली वैदर्भीभीऽवतिष्ठते।
सावन्तिका समस्तैः स्याद्द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः।।"

मागधी का लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिया है

"समस्तरीति व्यामिश्रा लाटीया रीतिरिष्यते।
पूर्वरीतिरनिर्वाह खण्डरीतिस्तु मागधी।।"

तात्पर्य यह है कि सब रीतियों के मिश्रण को लाटी रीति कहते हैं और इस रीति के निर्वाह न होने पर खण्ड रीति को मागधी कहते हैं। परवर्ती विद्वानों ने वामन की तीन रीतियों को ही स्वीकार किया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है रीति विवेचन की परम्परा ग्यारहवीं-बारहवीं सदी तक निरन्तर चलती रही।

रीति के प्रकार

वामन ने रीति के तीन भेद स्वीकार किए हैं, जो निम्नलिखित हैं

वैदर्भी रीति

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार माधुर्य गुण के व्यंजक वर्णों द्वारा समासरहित अथवा अल्प-समास-संरचना वैदर्भी है

"माधुर्यव्यंजकैः वर्णैः रचना ललितात्मिका।
आवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरीष्यते।"

वामन ने वैदर्भी को समग्र गुणों से सम्पन्न माना है।

गौड़ी रीति

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार ओजगुणप्रकाशक वर्णों से युक्त उद्‌भट रचना, जिसमें समास युक्त और विद्वत्तापूर्ण पदों का अधिक प्रयोग होता है, गौड़ी रीति कहलाती है।

"औज: प्रकाशकैर्वर्णौः बन्ध आडम्बरः पुनः।
समासबहुला गौड़ी।"

वामन गौड़ी में मात्र ओज एवं कान्ति गुणों का समावेश प्रतिपादित।

पांचाली रीति

- आचार्य विश्वनाथ के अनुसार पाँच-छः समासयुक्त पदों के बन्ध वाली पांचाली रीति कही जाती है।

  'समस्त पंचषट्पदो बन्धः पांचालिका मता।'

- वामन के मत से पांचाली में सौकुमार्य और माधुर्य गुण होते हैं। स्पष्टतः वामन ने वैदर्भी को ही पूर्ण स्वीकृति दी है। वामन का यह वर्गीकरण असंगत सा प्रतीत होता है, क्योंकि यदि काव्य पाँच, सात या आठ गुणों से मण्डित हो तो वह किस श्रेणी में रखा जाएगा? इस बात को वामन ने भी स्वीकार किया कि देश विशेष के लोगों की रचना के आधार पर रीतियों का नामकरण किया गया है, पर उनकी मान्यता इस सम्बन्ध में यह थी, कि देश विशेष के 'द्रव्यगुणों' या 'काव्यगुणों' की उत्पत्ति नहीं होती। इस स्पष्टीकरण के पश्चात् भी आचार्य कुन्तक ने इनके वर्गीकरण को नहीं स्वीकार किया अपितु मानस अवस्था से सम्बन्धित बता कर रीतियों का वर्गीकरण सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग के रूप में किया।

रीति के आधारभूत तत्त्व

वामन सौन्दर्यावादी आचार्य थे। उन्होंने सौन्दर्य से सम्बन्ध रखने वाले सौन्दर्य विधायक सभी गुणों को जिनसे कि काव्य-सौन्दर्य में भी अभिवृद्धि होती है। रीति के आधारभूत तत्त्वों के रूप में ग्रहण किया। गुणों के होते हुए भी यदि परिष्कृत भाषा और साज-सज्जा का अभाव हो और दोषयुक्त हो, तो काव्य प्रभावी होने पर भी हीन हो जाता है। अतः गुण, दोष तथा अलंकार को उन्होंने मुख्य रूप से काव्य का आधारभूत तत्त्व माना है।

गुण

आचार्य वामन ने गुणों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने पूर्व प्रचलित दस गुणों को ग्रहण कर लिया, पर प्रारम्भ में ही गुणों को दो भागों में वर्गीकृत कर दिया—शब्दगुण और अर्थगुण। वामन ने गुणों *की व्याख्या इस प्रकार की है*

- ***प्रसाद*** रचना की शिथिलता प्रसाद है।
- ***श्लेष*** मसृणत्व तथा सुकोमलता श्लेष है।
- ***समता*** शैली की एकरूपता अथवा मार्ग की अभेदता समता है।
- ***समाधि*** शैली का आरोह-अवरोह समाधि है।
- ***माधुर्य*** शब्दों की पृथकता माधुर्य है।
- ***सौकुमार्य*** कठोरता का अभाव सौकुमार्य है।
- ***उदारता*** रचना-शैली की विकटता उदारता है।
- ***कान्ति*** शैली की नवीनता तथा उज्ज्वलता कान्ति है।
- ***अर्थगुण*** शब्दगुणों के समान वामन ने अर्थगुणों को भी समझाया है।
- ***प्रसाद*** अर्थ की विमलता प्रसाद है।
- ***श्लेष*** क्रमिक घटना श्लेष है।
- ***समता*** अर्थ-दर्शन सुगमता समता है।
- ***समाधि*** अर्थ-दर्शन समाधि है।
- ***माधुर्य*** उक्तिवैचित्रय माधुर्य है।
- ***सौकुमार्य*** अर्थमसृणत्व सौकुमार्य है।
- ***उदारता*** अग्राम्यत्व उदारता है।
- ***अर्थव्यक्ति*** स्वाभाविक स्पष्टता की प्रतीति अर्थव्यक्ति है।
- ***कान्ति*** रस की दीप्ति कान्ति है।

दोष

जो गुणों तथा अलंकारों को हीन बनाते हैं, वे दोष कहे जाते हैं। उनकी भी व्याख्या वामन ने प्रस्तुत की है। भरत मुनि ने दोषों की संख्या दस निर्धारित की थी— गूढ़ार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीनता, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिलुतार्थ, न्यायक्षेत्र, विषम, विसन्धि एवं शब्दहीनता।

आचार्य भामह ने इनकी संख्या 21 कर दी, पर दण्डी ने दस ही स्वीकार की। वामन ने वर्गीकृत रूप में पद, पदार्थ, वाक्य और वाक्यार्थ दोषों का उल्लेख किया।

अलंकार

- रीति का तीसरा महत्त्वपूर्ण अंग अलंकार है। वामन के मतानुसार अलंकार काव्य से अनित्य सम्बन्ध रखते हैं। इनके द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न नहीं होता, अपितु सौन्दर्य अभिवृद्धि को प्राप्त करता है। सौन्दर्य को उत्पन्न करने की शक्ति उन्होंने गुणों में मानी है।
- इस प्रकार वामन के मतानुसार स्पष्टतः गुणों के पश्चात् ही अलंकारों का स्थान रखा गया है। इसी कारण 'रीति सम्प्रदाय' के आचार्य अलंकारवादियों के अलंकार को काव्य का स्थायी नित्य और आवश्यक अंग मानते हैं।
- वामन ने अलंकारों को पहले दो वर्गों में विभाजित किया है—शब्दालंकार और अर्थालंकार।

भारतीय काव्य सम्प्रदाय में रीति

भारतीय काव्य सम्प्रदायों में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि प्रमुख हैं। रसवादी आचार्य भरत मुनि ने काव्य में भावात्मकता को प्रमुख स्थान दिया, इससे काव्य को एक अत्यन्त उदात्त एवं गम्भीर स्वरूप प्राप्त हो गया। इसका सम्बन्ध काव्य के आन्तरिक पक्ष से या ध्वनि सम्प्रदाय ने रस और अलंकार को सम्माननीय स्थान प्रदान करके अपने अत्यधिक व्यापक और स्थायी बना लिया।

इन सम्प्रदायों की व्याख्या की गई है गुण तथा दोष। बाह्य पक्ष के रूप में रीति को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले वामन ने भरत मुनि के गुणों, दोषों को ही स्वीकार कर लिया। गुण तथा दोष ब्राह्य पक्ष के रूप में रीति से ही सम्बन्धित है, इसलिए यह सिद्धान्त रस सिद्धान्त की अपेक्षा अत्यधिक संकीर्ण ठहरता है।

आचार्य वामन ने अलंकारों का विरोध करके गुणों को प्रमुख स्थान देने का प्रयास किया, इसके बावजूद भी वामन, भामह और दण्डी के सिद्धान्तों के समीप ही प्रतीत होते हैं। आचार्य कुन्तक की तरह वे काव्य के सभी पक्षों को स्पर्श नहीं कर सके। उन्होंने सारी शक्ति गुण, दोष और अलंकारों की व्याख्या में लगा दी। ध्वनि सम्प्रदाय अत्यधिक व्यापक है, उससे रीति सम्प्रदाय का ता कोई मुकाबला ही नहीं हो सकता।

रीति सिद्धान्त का मूल्यांकन

वामन ने रीतिवाद में रस की उपेक्षा थी, गुणाश्रित रीति के सामने रस की गौण स्थिति थी। रस की स्वीकृति मात्र कान्ति गुण में स्वीकृत थी और वह कान्ति गुण गौड़ी रीति से सम्बद्ध था। गौड़ी को वामन ने वैदर्भी के सम्मुख अत्यन्त तुच्छ माना था। इस प्रकार उन्होंने उसे साध्य से साधन बना दिया गया था। मम्मट से काव्यात्मा के रूप में रीति के विरुद्ध *निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए*

- "क्या सभी गुणों से समन्वित रचना ही काव्य है, तो दो-दो गुणों वाली गौड़ी और पांचाली रीतियों में काव्यत्व नहीं होगा।"
- "यदि कुछ गुणों वाली रचना में भी काव्यत्व स्वीकार्य है, तो भोजगुणमयी नीरस रचना भी काव्य कहलाएगी, परन्तु कोई भी विद्वान् उसे काव्य मानने को प्रस्तुत नहीं।"
- मम्मट ने रीति को काव्यपुरुष के रूपक में अंगसंस्थानवत बाहरी तत्त्व ही स्वीकार किया और यही स्थिति परवर्ती काल में भी मान्य रही। वामन का यह रीति सिद्धान्त परवर्ती काव्यशास्त्र में मान्य नहीं हुआ।

रीति सम्प्रदाय की उपलब्धि

- रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार करना आचार्य वामन की सर्वप्रमुख देन है, किन्तु सौन्दर्य को वे काव्य का प्रमुख तत्त्व मानते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य बोध और रीति साधन ठहरती है, पर वे रीति को काव्यात्मा मानते हैं। इससे भ्रमात्मकता उत्पन्न होती है।
- रीति के विवेचन में उन्होंने गुण, दोष एवं अलंकारों का विवेचन किया। उनके गुण-दोष-विवेचन का आधार नाट्यशास्त्र है। उन्होंने अलंकारों का विवेचन भामह और दण्डी के आधार पर ही किया है। वैदर्भी तथा गौड़ी रीति की कल्पना उनकी अपनी मौलिकता है। गुणों को उन्होंने अलंकारों से प्रमुख स्थान दिया, उनके मत में गुणों का विवेचन और रीतियों की व्याख्या अस्पष्ट है। वामन की प्रमुख देन यही है, कि काव्य की आत्मा की खोज का पथ उन्होंने ही विकसित किया।